वेदाङ्गोंका परिचय

(डॉ० श्रीनरेशजी झा, शास्त्रचूडामणि)

वेद समस्त ज्ञानराशिके अक्षय भण्डार हैं। इतना ही नहीं हम भारतीयोंकी प्राचीन सभ्यता, संस्कृति और धर्मके आधारभूत स्तम्भ हैं। अतः समस्त जन-मानस इन्हें अतिशय आदर-सम्मान एवं पवित्रताकी दृष्टिसे देखता है। इनकी महनीयता तो स्वतःसिद्ध है।

ये वेद अनादि और अपौरुषेय हैं, साक्षात्कृतधर्मा ईश्वरके निःश्वासभूत हैं—'**यस्य निःश्वसितं वेदाः।**' वस्तुतः ये ईश्वरप्रदत्त ज्ञानके निष्पादक हैं। वेद शब्दकी व्युत्पत्ति ही '**विद ज्ञाने**' धातुसे हुई है। इनमें ज्ञान-विज्ञानके साथ-साथ आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक समस्त पक्षोंका प्रतिपादन है। ये तपःपूत ब्रह्मनिष्ठ मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंद्वारा उनके अपने तपोबलसे अनुभूत हैं।

वेद धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार प्रकारके पुरुषार्थोंके प्रतिपादक हैं। ये वेद भी अङ्गोंके द्वारा ही व्याख्यात होते हैं, अतः वेदाङ्गोंका अतिशय महत्त्व है।

काव्यशास्त्रमें 'अङ्ग' शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है उपकार करनेवाला अर्थात् वेदोंके वास्तविक अर्थका भलीभाँति दिग्दर्शन करानेवाला। जैसा कि कहा गया है—'**अङ्ग्यन्ते=ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि**' अर्थात् जिन उपकरणोंसे किसी तत्त्वके परिज्ञानमें सहायता प्राप्त होती है, वे 'अङ्ग' कहलाते हैं। निष्कर्ष यह है कि वेदोंके अर्थ-ज्ञानमें और उनके कर्मकाण्डके प्रतिपादनमें भरपूर सहायता प्रदान करनेमें जो सक्षम और सार्थक शास्त्र हैं, उन्हें ही विद्वान् 'वेदाङ्ग'के नामसे व्यवहृत करते हैं। वेदाङ्ग छः प्रकारके होते हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष।

वेद-मन्त्रोंका समुचित रूपसे उच्चारण करना प्रथमतः परमावश्यक है। अतः इस निमित्त जो व्यवहारमें आनेवाली पद्धति है, वही वेदाङ्गकी 'शिक्षा' कही जाती है। वेदका मुख्य प्रयोजन है—वैदिक कर्मकाण्ड, जिससे यज्ञ-यागादिका यथार्थ अनुष्ठान किया जाता है। इस प्रयोजनके लिये प्रवृत्त जो अङ्ग है, उसे 'कल्प' कहते हैं। कल्पका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है—यज्ञ-यागके प्रयोगोंका समर्थक शास्त्र। जैसा कि कहा गया है—

'**कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र इति कल्पः।**'

इसी प्रकार व्याकरण शास्त्रका वेदाङ्गत्व-प्रयोजन इसलिये सिद्ध है कि वह पदोंका, प्रकृतिका और प्रत्ययका विवरण प्रस्तुत कर पदके यथार्थ स्वरूपका परिचय देता है। साथ ही अर्थका विश्लेषण भी करता है—

'**व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्।**'

—इस प्रयोजनके लिये व्याकरणकी उपयोगिता निर्विवाद है।

चौथे अङ्ग निरुक्तका कार्य है—पदोंका निरुक्ति-कथन और व्युत्पत्ति-प्रदर्शन। निरुक्तिकी विभिन्नतासे अर्थमें भी भिन्नता होती है। अतः अर्थ-निरूपण-प्रसंगमें इसकी वेदाङ्गता सिद्ध होती है।

दूसरी बात यह कि वेद छन्दोमयी वाणीमें हैं। अतः छन्दके परिचयके बिना वेदार्थका ज्ञान कैसे हो सकता है। परिज्ञान प्राप्त होनेपर ही मन्त्रोंका समुचित उच्चारण और पाठका सुस्पष्ट ज्ञान होगा।

इसी प्रकार छठा वेदाङ्ग ज्यौतिष शास्त्र है, जिसे प्रत्यक्ष शास्त्र कहा गया है—'**प्रत्यक्षं ज्यौतिषं शास्त्रं चन्द्रार्कौ यत्र साक्षिणौ**' अर्थात् ज्यौतिष शास्त्र प्रत्यक्ष है, चन्द्र और सूर्य इसके साक्षी हैं। यह शास्त्र यज्ञ-यागादिके समुचित समयका निरूपण करता है। जैसे—श्रौतयागका अनुष्ठान किसी विशिष्ट ऋतु और किसी विशिष्ट नक्षत्रमें करनेका विधान है। साथ ही विवाहादि गृह्यकर्मके लिये नक्षत्रोंका ज्ञान हम ज्यौतिष शास्त्रसे ही प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार संक्षेपमें यह कथन समीचीन होगा कि मन्त्रोंके समुचित उच्चारणके लिये शिक्षाका, कर्मकाण्डीय यज्ञ-यागादि अनुष्ठानके लिये कल्पका, शब्दस्वरूप और व्युत्पत्ति-ज्ञानके लिये व्याकरणशास्त्रका, समुचित अर्थज्ञानके

लिये—शब्दोंके स्फोटनपूर्वक निर्वचन एवं निरुक्तिके लिये निरुक्तका, वैदिक छन्दोंके यथार्थ ज्ञानके लिये छन्दका और विविध अनुष्ठानोंके काल-ज्ञानके लिये ज्यौतिषका समुचित उपयोग होनेके कारण विद्वद्वर्ग इन्हें 'वेदाङ्ग' कहते हैं।

शिक्षा

वेदोंके प्राणभूत वेदाङ्गोंमें शिक्षाका प्राथमिक महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट स्थान है। यह शिक्षा वेदपुरुषका घ्राण (नाक) है—**'शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य।'** जिस प्रकार पुरुष सभी अङ्गोंके यथास्थिति रहनेपर एवं मुख-सौन्दर्य आदिसे परिपुष्ट होनेपर भी घ्राण (नाक)-के बिना चमत्कारपूर्ण स्वरूपको नहीं प्राप्त करता है, निन्दित ही होता है,उसी प्रकार वेदपुरुषका स्वरूप शिक्षारूपी घ्राणके बिना अत्यन्त अशोभनीय और विकृत आकारवाला दिखायी देगा।

शिक्षाका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ करते हुए वेद-भाष्यकार सायणाचार्यजी कहते हैं—**'स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा'** अर्थात् स्वर एवं वर्ण आदिके उच्चारण-प्रकारकी जहाँ शिक्षा दी जाती हो, उपदेश दिया जाता हो, उसे 'शिक्षा' कहते हैं। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि वेदाङ्गोंमें उस शास्त्रको शिक्षा कहते हैं, जिससे ऋग्वेद आदि वेद-मन्त्रोंका अविकल यथास्थिति विशुद्ध उच्चारण हो।

इस महनीय शिक्षा-शास्त्रका प्रयोजन तैत्तिरीयोपनिषद्में इस प्रकार वर्णित है—**'अथ शीक्षां व्याख्यास्यामः—वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलम्, साम, संतान इत्युक्तः शिक्षाध्यायः'** अर्थात् वर्ण इस पदसे अकारादिका, स्वरसे उदात्तादिका, मात्रासे ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतका, बलसे स्थान-प्रयत्नका, सामसे निषाद आदि स्वरका और संतानसे विकर्षण आदिका ग्रहण होता है। संक्षेपमें यही शिक्षाका प्रयोजन है। इसका विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि वेदाध्ययनकी अच्छी प्राचीन प्रणाली यह है कि प्रारम्भमें गुरु (शिक्षक) किसी मन्त्रका सस्वर उच्चारण स्वयं करे, तत्पश्चात् शिष्य सावधानीसे सुनकर और अवधारणा करके उसका उच्चारण—अनुसरण करे। अतएव वेदका एक नाम 'अनुश्रव' भी है अर्थात् अनु—पश्चात् जो सुना जाय वह है 'अनुश्रव'। इसीलिये कहा गया—**'गुरोर्मुखादनुश्रूयते इति अनुश्रवो वेदः।'**

वेदके समुचित उच्चारणके लिये स्वरका ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित होता है। मुख्यतः स्वर तीन होते हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। ऊँचे स्वरमें उच्चारणके कारण उदात्त, मन्द स्वरमें उच्चारण होनेसे अनुदात्त और दोनोंके समावेशसे उच्चरित होनेके कारण स्वरित कहा गया है।

प्रायः देखा जाता है कि वेदके प्रत्येक शब्दमें उदात्त स्वर अवश्य रहता है, शेष स्वर अनुदात्त होते हैं। इन अनुदात्तोंमेंसे कुछ अनुदात्त स्वर विशेष अवस्थामें स्वरित हो जाते हैं। वेदमें स्वर-प्रधानताका मुख्य कारण है अर्थका नियमन। यहाँ तात्पर्य यह है कि शब्दके एकत्व होनेपर भी स्वरके भेदसे उनमें अर्थ-भेद हो जाता है। स्वरमें एक सामान्य त्रुटि भी यदि हो जाती है तो अर्थान्तर अथवा अनर्थ हो जायगा। अतएव यज्ञका विधिपूर्वक निर्वाह करना कठिन हो जायगा। अतः स्वरका सावधानीपूर्वक व्यवहार करना चाहिये; क्योंकि यथार्थ उच्चारणके लिये प्रत्येक वेदकी अपनी-अपनी शिक्षा है। जिन शिक्षाओंमें वेदानुकूल शिक्षाका विधान है।

कल्प

विपुल वेदाङ्ग-साहित्यमें कल्पका दूसरा स्थान है। कहीं-कहीं इतिहासमें यह तीसरे स्थानमें भी चर्चित है। वैदिक साहित्यमें इसका अतिशय महत्त्वपूर्ण स्थान है। कल्पकी प्रयोजनीयताका अनुभव तब हुआ, जब शतपथ आदि ब्राह्मणग्रन्थोंमें यज्ञ-यागादिके कर्मकाण्डीय व्यवस्थामें विस्तार होनेसे उसके व्यवहारमें कठिनताकी अनुभूति होने लगी। उसकी पूर्तिके लिये कल्पसूत्रोंकी प्रतिशाखामें रचना हुई। ऋग्वेद प्रातिशाख्यके वर्गद्वय-वृत्तिमें कल्पके विषयमें कहा गया है—**'कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पना शास्त्रम्'** अर्थात् कल्प वेद-प्रतिपादित कर्मोंका भलीभाँति विचार प्रस्तुत करनेवाला शास्त्र है। इसीलिये इसे वेदका हाथ कहा गया है—**'हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।'**

निष्कर्ष यह है कि जिन यज्ञ-यागादि विधानोंका, विवाह-उपनयन आदि कर्मोंका महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन वैदिक ग्रन्थोंमें किया गया है, उन सूत्र-ग्रन्थोंका नाम है—'कल्प'। इसकी प्राचीनताके विषयमें ऐतरेयारण्यकमें विपुल प्रमाण हैं।

कल्पसूत्रकी व्युत्पत्ति और व्यापकता—

सामान्य नियमके अनुसार कल्प और सूत्र इन दोनों शब्दोंमें संयोगसे कल्पसूत्रकी रचना होती है। कल्प वह विलक्षण शब्द है, जो किसी विशिष्ट अर्थको प्रकट करता है। वह विलक्षण अर्थ है—विधि, नियम, न्याय, कर्म और आदेशके अर्थमें प्रयुक्त परिव्याप्ति। इसी प्रकार 'सूत्र' शब्दका विशिष्ट अर्थ होता है—संक्षेप।

सूत्र-रचनाका उद्देश्य—

वैदिक वाङ्मयके इतिहासमें कल्पसूत्रोंका आविर्भाव नवीन युगका सूत्रपात है। यह भी एक विशिष्ट उद्देश्य था कि प्राचीन वैदिक युगमें उसके साहित्यका विस्तार दुर्गम और रहस्यमय होनेसे उसका यथार्थ ज्ञान कठिन था, उसी दुरूहताको दूर करनेके लिये सूत्र-युगका आविर्भाव हुआ।

कल्पसूत्रोंके भेद—

कल्पसूत्रोंके मुख्यतः तीन भेद होते हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। किन्हींके मतमें चौथा भेद भी है। वे शुल्बसूत्रको भी कल्पसूत्रोंमें ही मानते हैं, परंतु इसमें 'ज्यामिति आदि विज्ञान' के समन्वित होनेके कारण इसे पृथक् कहा गया है।

श्रौतसूत्रोंमें श्रुति-प्रोक्त चौदह यज्ञोंका मुख्य रूपसे कर्तव्य-विधान है। इनमें ऋग्वेदके आश्वलायन और शांखायन दो श्रौतसूत्र हैं। इसी प्रकार गृह्यसूत्रोंमें आश्वलायन और पारस्कर गृह्यसूत्र अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। वैसे प्रत्येक वेदके अलग-अलग गृह्यसूत्र हैं। धर्मसूत्रोंमें चारों वर्णोंके कर्तव्यकर्म और व्यवहारके साथ राजधर्मका वर्णन मुख्य है। इनमें मानव-धर्मसूत्र, जिसके आधारपर मनुस्मृतिकी रचना हुई, अभी भी अनुपलब्ध है। प्राप्त धर्मसूत्रोंमें—गौतम-धर्मसूत्र, बौधायन-धर्मसूत्र, आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, हिरण्यकेशि-धर्मसूत्र, वसिष्ठ-धर्मसूत्र, वैखानस-धर्मसूत्र और विष्णु-धर्मसूत्र आदि मुख्य हैं। ये वेदोंके अनुपूरक हैं।

व्याकरण

वेदके छः अङ्गोंमें व्याकरणशास्त्र तीसरा अङ्ग है और वह वेदपुरुषका प्रमुख अङ्ग है। पाणिनीय शिक्षामें '**मुखं व्याकरणं स्मृतम्**' कहा गया है। मुख होनेके कारण व्याकरणशास्त्रका मुख्यत्व स्वयंसिद्ध है।

व्याकरणका प्रयोजन—

किसी भी शास्त्रके अध्ययनके लिये यह आवश्यक होता है कि उस शास्त्रका प्रयोजन जाने; क्योंकि प्रयोजनके बिना किसी कार्यमें मन्द पुरुषकी भी प्रवृत्ति नहीं होती—'**प्रयोजनमनुद्दिश्य मूढोऽपि न प्रवर्तते।**' अतः उस शास्त्रका प्रयोजन-ज्ञान आवश्यक होता है। आचार्य कुमारिल भट्टने अपने श्लोकवार्तिकमें ठीक ही कहा है—

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।
यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत् केन गृह्यते॥

अर्थात् सब शास्त्र या किसी कर्मका जबतक प्रयोजन न कहा जाय, तबतक उसमें किसीकी प्रवृत्ति कैसे होगी? यह ठीक है, किंतु इस विषयमें श्रुति कहती है कि '**ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च**' अर्थात् ब्राह्मण (द्विजमात्र)-के द्वारा अनिवार्य संध्या-वन्दनादिकी तरह धर्माचरण तथा षडङ्ग वेदोंका अध्ययन एवं मनन किया जाना चाहिये। फिर भी मुनिवर कात्यायनने प्रयोजनका उद्देश्य बतलाते हुए कहा—'**रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः व्याकरणप्रयोजनम्**' अर्थात् रक्षा, ऊह, आगम, लघु और असंदेह—ये व्याकरण-अध्ययनके प्रयोजन हैं।

रक्षा—इस विषयमें भाष्यकार पतञ्जलिने कहा है कि 'वेदोंकी रक्षाके लिये व्याकरण पढ़ना चाहिये। लोप, आगम और वर्ण-विकारको जाननेवाला ही वेदोंकी रक्षा कर सकेगा।' कहनेका अभिप्राय यह है कि व्याकरणके नियमानुसार वर्ण-लोपादिके ज्ञानके बिना शास्त्रोंके आकर-स्वरूप वेदका परिपालन नहीं हो सकता। इतना ही नहीं; कात्यायन और पतञ्जलिका मत है कि व्याकरण-ज्ञानके अभावमें मन्त्रोंमें विकार उत्पन्न होगा। निष्कर्ष यह है कि व्याकरण पुरुषार्थका साधक उपाय है, क्योंकि वेदार्थ-ज्ञान, कर्मानुष्ठानजनित और उपनिषद्-जनित सुख वस्तुतः व्याकरण-अध्ययनका ही फल है।

ऊह—ऊहका अर्थ होता है तर्क-वितर्क अर्थात् नूतन पदोंकी कल्पना। मीमांसकोंका कहना है कि यह विषय तो मीमांसा-शास्त्रका है। इस विषयमें भाष्यकार पतञ्जलिका मत है कि 'वेदमें जो मन्त्र कथित हैं, वे सब लिङ्गों एवं विभक्तियोंमें नहीं हैं। अतः उन मन्त्रोंमें यज्ञमें अपेक्षित

रूपसे लिङ्ग और विभक्तिका व्यतिहार करना चाहिये और यह दुष्कर कार्य वैयाकरणके द्वारा ही सम्भव है। अतः व्याकरण अवश्य पढ़ना चाहिये।'

आगम—व्याकरणके अध्ययनके लिये स्वयं श्रुति ही प्रमाणभूत है। श्रुति कहती है कि ब्राह्मण (द्विज)-का अनिवार्य कर्तव्य है कि वह 'निष्कारणधर्मका आचरण तथा अङ्गसहित वेदका अध्ययन करे। वेदके षडङ्गोंमें व्याकरण ही मुख्य है। मुख्य विषयमें किया गया प्रयत्न विशेष फलवान् होता है। अतः श्रुति-प्रामाण्यको ध्यानमें रखकर व्याकरणका अध्ययन करना चाहिये।'

लघु—इस विषयमें श्रुति कहती है कि देवगुरु बृहस्पतिने इन्द्रको दिव्य सहस्र वर्षपर्यन्त अध्यापन किया, फिर भी विद्याका अन्त नहीं हुआ। संक्षेपीकरणकी आवश्यकता थी। अतएव महर्षि पतञ्जलिने कहा कि शास्त्रका लघुता-सम्पादन भी व्याकरणका प्रयोजन है।

असंदेह—व्याकरण-प्रयोजनके विषयमें अन्तिम कारण है—असंदेह। संदेहको दूर करनेके लिये व्याकरणका अध्ययन अवश्य करना चाहिये। जैसे—'**स्थूलपृषतीम्**' यहाँ बहुव्रीहि समास होगा अथवा तत्पुरुष? यही संदेहका स्थान है। निष्कर्ष यह है कि अवैयाकरण मन्त्रोंके स्वर-विचारमें कदापि समर्थ नहीं हो सकेगा, इसलिये व्याकरणशास्त्र सप्रयोजन है। भले ही मीमांसक इस विषयमें आक्षेप करते हों। वैयाकरण तो स्पष्टरूपसे कहते हैं—

यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृच्छकृत्॥

अर्थात् हे पुत्र! तुमने अनेक अन्य शास्त्रोंका तो अध्ययन किया, फिर भी व्याकरणशास्त्र अवश्य पढ़ो, जिससे तुम्हें शब्दोंका यथार्थ ज्ञान हो सके।

महर्षि पतञ्जलिने तो उपर्युक्त प्रयोजनोंके अतिरिक्त म्लेच्छता-निवारणको भी प्रयोजन कहा है, जिससे अपशब्दोंका प्रयोग सम्भव न हो। इस विषयमें शतपथ-ब्राह्मण भी सहमत है। अतः व्याकरणका अध्ययन सप्रयोजन है, क्योंकि कहा गया है—'**एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति**' अर्थात् एक शब्दका भी अच्छी तरहसे ज्ञान प्राप्त करके यदि शास्त्रानुसार उसका प्रयोग किया जाय तो स्वर्गलोकमें तथा इस लोकमें सफलता प्राप्त होती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि ऐन्द्र आदि आठ व्याकरणोंमें कौन-सा व्याकरण वेदाङ्गका प्रतिनिधित्व करता है। आजकल प्रचलित और प्राप्त व्याकरणोंमें पाणिनीय व्याकरण ही प्राचीनतम है। साथ ही अन्य व्याकरणोंमें पाणिनीय व्याकरण अधिक लोक-प्रचलित और लोकप्रिय है। अतः प्राचीन तथा सर्वाङ्गपूर्ण होनेके कारण पाणिनीय व्याकरण ही वेदाङ्गका प्रतिनिधित्व करता है। इससे ऐन्द्र आदि व्याकरणोंकी प्राचीनताके विषयमें कोई संदेह नहीं करना चाहिये।

निरुक्त

छः वेदाङ्गोंमें निरुक्त चौथे स्थानपर है, जो कि वेद-पुरुषका श्रोत्र (कान) कहा गया है—'**निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।**' इस विषयमें वेद-भाष्यकार सायणाचार्य अपनी चतुर्वेद-भाष्य-भूमिकामें कहते हैं कि '**अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्**' अर्थात् अर्थ-ज्ञानमें निरपेक्षतासे पदोंकी व्युत्पत्ति जहाँ कही गयी है, वह निरुक्त है। निरुक्तकी शाब्दिकी निरुक्ति होगी—निःशेषरूपसे जो कथित हो, वह निरुक्त है। अतः जहाँ शिक्षा आदि वेदाङ्ग वेदके बाह्य तत्त्वोंका निरूपण करते हैं, वहीं निरुक्त वेद-विज्ञानके आन्तरिक स्वरूपको स्पष्टतः उद्घाटित करता है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि दूसरे वेदाङ्ग प्रायः विभिन्न सूत्रोंमें लिखे गये हैं, किंतु यह निरुक्त गद्य-शैलीमें लिखित है। दूसरी बात यह भी है कि वेदार्थको यथार्थरूपसे जाननेमें निघण्टुके अनन्तर निरुक्तका ही प्रमाण है। निरुक्त निघण्टुकी भाष्यभूत टीका है। निघण्टुमें वेदके कठिन शब्दोंका समुच्चय है। इसे वैदिक कोश भी कह सकते हैं। निघण्टुकी संख्याके विषयमें पर्याप्त मतभेद है। अभी उपलब्ध निघण्टु एक ही है और इसके ऊपर महर्षि यास्क-विरचित निरुक्त है। कुछ विद्वान् ऋषिप्रवर यास्कको ही निघण्टुका भी रचयिता मानते हैं, किंतु प्राचीन परम्पराके अनुशीलनसे यह धारणा प्रमाणित नहीं होती। निरुक्तके प्रारम्भमें निघण्टुको 'समाम्नाय' कहा गया है। इस शब्दकी जो व्याख्या दुर्गाचार्य महाशयने की है, उस व्याख्यासे तो उसकी प्राचीनता ही सिद्ध होती है। महाभारतके मोक्षधर्मपर्वमें प्रजापति कश्यप इस

निघण्टुके रचयिता कहे गये हैं। निघण्टुमें पाँच अध्याय हैं। उनमें एकसे तीन अध्यायतक नैघण्टुककाण्ड, चौथा अध्याय नैगमकाण्ड और पाँचवाँ अध्याय दैवतकाण्ड है। अभी निघण्टुकी एक ही व्याख्या प्राप्त होती है, जिसके व्याख्याकार हैं 'देवराजयज्वा'।

निरुक्तकाल—

ऐतिहासिक दृष्टिसे निघण्टुकालके बाद ही निरुक्तकाल माना जाता है। इसी युगमें निरुक्तका वेदाङ्गत्व सिद्ध होता है। दुर्गाचार्यकृत दुर्गवृत्तिके अनुसार निरुक्तोंकी संख्या चौदह थी। यास्कके उपलब्ध निरुक्तमें बारह निरुक्तकारोंका उल्लेख है। सम्प्रति यास्क-विरचित यही निरुक्त वेदाङ्गका प्रतिनिधि-स्वरूप ग्रन्थ है। निरुक्तमें बारह अध्याय हैं और अन्तमें परिशिष्टरूप दो अध्याय हैं। इस प्रकार समग्र ग्रन्थ चौदह अध्यायोंमें विभक्त है।

यास्ककी प्राचीनताके विषयमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है। ये महर्षि पाणिनिसे भी प्राचीन हैं। महाभारतके शान्तिपर्वमें निरुक्तकारके रूपमें यास्कका स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

निरुक्तमें वैदिक शब्दोंकी निरुक्ति है। निरुक्ति-शब्दका अर्थ है 'व्युत्पत्ति'। निरुक्तका यह सर्वमान्य मत है कि प्रत्येक शब्द किसी-न-किसी धातुके साथ अवश्य सम्बद्ध रहता है। अतः निरुक्तकार शब्दोंकी व्युत्पत्ति प्रदर्शित कर धातुके साथ विभिन्न प्रत्ययोंका निर्देश देते हैं। निरुक्तके अनुसार सभी शब्द व्युत्पन्न हैं अर्थात् वे सभी शब्द किसी-न-किसी धातुसे निर्मित हैं। वैयाकरण शाकटायनका भी यही मत है कि सभी शब्द धातुसे उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक संज्ञापदके धातुसे व्युत्पन्न होनेके कारण यह आधार नितान्त वैज्ञानिक है। आजकल इसीका नाम 'भाषा-विज्ञान' है। इस विज्ञानकी उन्नति पाश्चात्त्य जगत्में लगभग सौ वर्षके भीतर ही हुई है। जबकि आजसे तीन हजार वर्ष-पूर्व वैदिक ऋषियोंके द्वारा इस शास्त्रके सिद्धान्तोंका वैज्ञानिक-रीतिसे निरूपण किया गया था।

निरुक्त और व्याकरणका सामञ्जस्य—

निरुक्तप्रणेता यास्काचार्यने निरुक्तके प्रथम अध्यायमें कहा है कि '**तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्।**' इसी कारण वेदोंके सम्यक् ज्ञान और अध्ययनके लिये निरुक्त तथा व्याकरण—इन दोनोंकी साहचर्यरूपसे आवश्यकता होती है। व्याकरणका मुख्य प्रयोजन है शब्दोंका शुद्धीकरण। निरुक्त व्याकरणके सभी प्रयोजनोंको तो सिद्ध करता ही है, किंतु इसकी मुख्य विशेषता है शब्दार्थका विवेचन करना। निरुक्त साधित शब्दों—धातुओंकी एक विलक्षण कल्पना करके मौलिक अर्थके अन्वेषणमें सतत प्रयत्नशील रहता है। दूसरी बात यह है कि निरुक्तसे धातु-पाठके सभी अर्थ उत्पन्न होते हैं, किंतु धातुओंके परिज्ञानके लिये निरुक्त भी व्याकरणके अधीन है। अतः दोनोंका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

छन्द

छन्द वेदका पाँचवाँ अङ्ग है। पाणिनीय शिक्षामें कहा गया है कि '**छन्दः पादौ तु वेदस्य**' अर्थात् छन्द वेदपुरुषके पैर हैं। जिस प्रकार पाद (पैर)-से हीन मनुष्य लँगड़ा कहा जाता है, उसी प्रकार छन्दोंसे हीन वेदपुरुष लँगड़ा होता है। अतः वेद-मन्त्रोंके उच्चारणके लिये छन्दोंका ज्ञान आवश्यक है। छन्दोंके ज्ञानके अभावमें मन्त्रोंका उच्चारण और पाठ समुचितरूपसे नहीं हो पाता। प्रत्येक सूक्तमें देवता, ऋषि और छन्दका ज्ञान आवश्यक होता है। महर्षि कात्यायनका यह सुस्पष्ट मत है कि जो वेदपाठी अथवा याजक (यज्ञ करनेवाला) छन्द, ऋषि और देवताके ज्ञानसे हीन होकर मन्त्रका अध्ययन, अध्यापन या यजन करता है, उसका वह प्रत्येक कार्य निष्फल ही होता है। जैसा कि सर्वानुक्रमणी (१। १)-में कहा गया है—

'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा अध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पात्यते वा पापीयान् भवति।'

वेदाङ्गमें उपयुक्त मुख्य छन्दोंके नाम संहिता और ब्राह्मणग्रन्थोंमें उपलब्ध होते हैं। जिससे प्रतीत होता है कि इस अङ्गकी उत्पत्ति वैदिक युगमें ही हुई। इस पाँचवें वेदाङ्गका आधार-ग्रन्थ है पिङ्गलाचार्यकृत 'छन्दःसूत्रम्'।

इस महनीय ग्रन्थ 'छन्दःसूत्रम्' के रचयिता आचार्य पिङ्गल हैं। यह ग्रन्थ सूत्ररूपमें है और आठ अध्यायोंमें विभक्त है। प्रारम्भसे चौथे अध्यायके सातवें सूत्रतक वैदिक छन्दोंके लक्षण हैं। तदनन्तर लौकिक छन्दोंका वर्णन है।

प्रचलित लौकिक काव्योंमें छन्द और पादबद्धताका सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि पद्योंमें ही छन्दोंकी योजना होती है और गद्य छन्दरहित होते हैं, परंतु वैदिक छन्दके विषयमें यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। प्राचीन आर्य-परम्पराके अनुसार गद्य भी छन्दयुक्त माना जाता है। दुर्गाचार्यने निरुक्तकी वृत्तिमें लिखा है कि छन्दके बिना वाणी उच्चरित नहीं होती। यथा—'**नाच्छन्दसि वागुच्चरति।**'

भरतमुनि भी छन्दसे रहित शब्दको स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है—

छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति न छन्दः शब्दवर्जितम्।

कात्यायनमुनिने भी इसका समर्थन करते हुए कहा है कि वेदका ऐसा कोई मन्त्र नहीं है, जो छन्दोंके माध्यमसे न बना हो। फलतः यजुर्वेदके मन्त्र भी जो निश्चय ही गद्यात्मक हैं, वे छन्दोंसे रहित नहीं हैं। अतएव प्राचीन आचार्योंने एक अक्षरसे लेकर १०४ अक्षरोंतकके छन्दोंका विधान अपने ग्रन्थोंमें किया है।

'छन्द' शब्दकी व्युत्पत्ति—

महर्षि यास्कने '**छन्द**' शब्दकी व्युत्पत्ति '**छद्**' धातुसे की है। '**छन्दांसि छन्दः**' इस कथनका अभिप्राय यह है कि ये छन्द वेदके आवरण हैं, आवरणके साधन हैं।

वैदिक छन्द—

वैदिक छन्दोंकी यह विशेषता है कि ये अक्षर-गणनामें नियत होते हैं अर्थात् अक्षरोंसे गुरु-लघुके क्रमका कोई विशेष नियम नहीं रहता। अतएव कात्यायनने सर्वानुक्रमणीमें इसका लक्षण किया है—'**यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः।**' यहाँ यह ध्यातव्य है कि अनेक शताब्दियोंके अनन्तर वैदिक छन्दोंसे ही लौकिक छन्दोंका आविर्भाव हुआ। लौकिक छन्दोंमें चार पाद होते हैं और वैदिक छन्दोंमें ऐसा कोई नियम नहीं है। वेदप्रयुक्त छन्दोंमें कहीं लघु-गुरु मात्राओंका अनुगमन नहीं है। वहाँ केवल अक्षरोंकी गणना होती है, जिससे समस्त वैदिक छन्द अक्षरोंपर ही आश्रित हैं। अक्षरसे यहाँ तात्पर्य स्वरसे है।

वैदिक छन्दोंके मुख्य भेद—

वैदिक छन्दोंके मुख्य भेदोंके विषयमें ऐकमत्य नहीं है, परंतु समस्त वैदिक छन्दोंकी संख्या २६ है। इनमें प्राथमिक ५ छन्द वेदमें अप्रयुक्त हैं। उनको छोड़कर अवशिष्ट छन्दोंको हम तीन सप्तकोंमें बाँट सकते हैं। प्रयुक्त छन्दोंमें गायत्री प्रथम छन्द है, जिसके प्रत्येक पादमें ६ अक्षर होते हैं। अतः प्रथम सप्तक गायत्रीसे प्रारम्भ होता है। इसके पूर्वके पाँच छन्द '**गायत्री पूर्वपञ्चक**' के नामसे विख्यात हैं। उनके नाम हैं—(१) मा (अ० सं० ४), (२) प्रमा (अ० सं० ८), (३) प्रतिमा (अ० सं० १२), (४) उपमा (अ० सं० १६) और (५) समा (अ० सं० ३०)— ये नाम ऋक् प्रातिशाख्यके अनुसार हैं। अन्य ग्रन्थोंमें इनसे भिन्न नाम हैं, जैसे—भरतमुनिके नाट्यशास्त्रमें उनके क्रमानुसार नाम ये हैं—उक्त, अत्युक्त, मध्यम, प्रतिष्ठा और सुप्रतिष्ठा। प्रथम सप्तकके सात छन्दोंके नाम हैं—गायत्री (२४ अक्षर), उष्णिक् (२८ अक्षर), अनुष्टुप् (३२ अक्षर), बृहती (३६ अक्षर), पंक्ति (४० अक्षर), त्रिष्टुप् (४४ अक्षर) और जगती (४८ अक्षर)।

इस प्रकार संक्षेपमें वैदिक छन्दोंका विवरण उपस्थित किया गया है। विस्तारसे 'पिङ्गलछन्दःसूत्र' में देखना चाहिये।

ज्यौतिष

वेदाङ्गोंमें ज्यौतिष छठा और अन्तिम वेदाङ्ग है। जिस प्रकार व्याकरण वेदपुरुषका मुख है, उसी प्रकार ज्यौतिषको उसका नेत्र कहा गया है—'**ज्योतिषामयनं चक्षुः।**' नेत्रोंके बिना जिस प्रकार कोई मनुष्य स्वयमेव एक पैर भी नहीं चल सकता, उसी प्रकार ज्यौतिष शास्त्रके बिना वेदपुरुषमें अन्धता आ जाती है। वेदकी प्रवृत्ति विशेषरूपसे यज्ञ-सम्पादनके लिये होती है। यज्ञका विधान विशिष्ट कालकी अपेक्षा करता है। यज्ञ-यागके सम्पादनके लिये समय-शुद्धिकी विशेष आवश्यकता होती है। कुछ कर्मकाण्डीय विधान ऐसे होते हैं, जिनका सम्बन्ध संवत्सरसे होता है और कुछका ऋतुसे। यहाँ आशय यह है कि निश्चितरूपसे नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास, ऋतु और संवत्सरके समस्त अंशोंके साथ यज्ञ-यागके विधान वेदोंमें प्राप्त होते हैं। अतः इन नियमोंके पालनके लिये और निश्चितरूपसे निर्वाहके लिये ज्यौतिष शास्त्रका ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिये विद्वान् ज्यौतिषको 'कालविज्ञापक शास्त्र' कहते हैं; क्योंकि मुहूर्त निकालकर की जानेवाली यज्ञादि-क्रिया-विशेष फलदायिका होती है। अतएव वेदाङ्ग ज्यौतिषका विशेष आग्रह है कि जो मनुष्य ज्यौतिष शास्त्रको अच्छी तरह जानता है, वही

यज्ञके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान रखता है। वेदाङ्ग ज्यौतिषका यह डिण्डिम घोष मनुष्योंको प्रेरित करता है कि—

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः
कालाभिपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं
यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्॥

यज्ञकी सफलता केवल समुचित विधानसे ही नहीं होती, प्रत्युत उचित निर्दिष्ट नक्षत्रमें और समुचित कालमें प्रयोगसे ही होती है।

ज्यौतिषका वेदाङ्गत्व—

वैदिक यज्ञ-विधानके लिये ज्यौतिषके अतिशय महत्त्वको स्वीकार कर सुविख्यात ज्यौतिष-मार्तण्ड भास्कराचार्यने अपने 'सिद्धान्तशिरोमणि' नामक ग्रन्थमें स्पष्ट घोषित किया कि—

वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृत्ता यज्ञाः
प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण।
शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्याद्
वेदाङ्गत्वं ज्यौतिषस्योक्तमस्मात्॥

अर्थात् वेद यज्ञकर्ममें प्रवृत्त होते हैं और यज्ञ कालके आश्रित होते हैं तथा ज्यौतिष शास्त्रसे कालज्ञान होता है, इससे ज्यौतिष शास्त्रका वेदाङ्गत्व सिद्ध होता है।

प्राचीन समयमें चारों वेदोंका अलग-अलग ज्यौतिष शास्त्र था, उनमें अभी सामवेदका ज्यौतिष उपलब्ध नहीं है, अवशिष्ट तीन वेदोंके ज्यौतिष प्राप्त होते हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) ऋग्वेद-ज्यौतिष—आर्च ज्यौतिष, ३६ पद्यात्मक।

(२) यजुर्वेद-ज्यौतिष—याजुष ज्यौतिष, ३९ पद्यात्मक।

(३) अथर्ववेद-ज्यौतिष—आथर्वण ज्यौतिष, १६२ पद्यात्मक।

वस्तुतः आर्च ज्यौतिष और याजुष ज्यौतिषमें समानता ही प्रतीत होती है, क्योंकि दोनोंमें अनेकत्र समता है। कहीं-कहीं इतिहासमें दो ज्यौतिषोंका ही उल्लेख मिलता है। आथर्वण ज्यौतिषकी चर्चा ही नहीं है। संख्याके विषयमें भी मतैक्य नहीं है। याजुष ज्यौतिषकी पद्य-संख्या ऊपर ३९ कही गयी है, कहीं-कहीं ४९ है। इसी प्रकार आथर्वण ज्यौतिषके स्थानपर 'अथर्व ज्यौतिष' यह नाम भी मिलता है।

उपर्युक्त विवेचनसे वेदोंके अध्ययन-मनन-चिन्तन एवं वेदार्थके सम्यक् बोध तथा गूढ वैदिक रहस्योंके ख्यापनमें वेदाङ्गोंकी अपरिहार्य निरतिशय महत्ता स्वयमेव प्रतिपादित है।